ISSN Print: 2664-8652
ISSN Online: 2664-8660
Impact Factor: RJIF 8
IJAHSS 2025; 7(1): 515-519
www.socialstudiesjournal.com
Received: 13-02-2025
Accepted: 16-03-2025

धीरज प्रताप मित्र
शोधछात्र, समाजशास्त्र विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी,
उत्तर प्रदेश, भारत

विशाल प्रताप मित्र
एम. ए., हिंदी विभाग, काशी हिन्दू
विश्वविद्यालय, वाराणसी, उत्तर प्रदेश,
भारत

Corresponding Author:
धीरज प्रताप मित्र
शोधछात्र, समाजशास्त्र विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी,
उत्तर प्रदेश, भारत

डिजिटल युग में जातिगत जनगणना: डेटा, लोकतंत्र तथा अस्मिता का अंतर्संबंध

धीरज प्रताप मित्र, विशाल प्रताप मित्र

DOI: https://www.doi.org/10.33545/26648652.2025.v7.i1g.219

सारांश

भारत जैसे बहुस्तरीय-बहुजातीय समाज में जातिगत जनगणना न केवल एक सांख्यिकीय प्रक्रिया है अपितु सामाजिक न्याय, लोकतांत्रिक प्रतिनिधित्व एवं ऐतिहासिक पुनर्परिभाषा का एक केंद्रीय औजार है। प्रस्तुत लेख डिजिटल युग में जातिगत जनगणना की आवश्यकता, इसकी जटिलताओं तथा इससे सम्बद्ध भविष्य की संभावनाओं की समाजशास्त्रीय व्याख्या करता है। मिशेल फूको, एंथनी गिडेन्स, युर्गेन हैबरमास तथा बाबासाहब अम्बेडकर जैसे विचारकों के सैद्धांतिक दृष्टिकोणों के माध्यम से यह विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है कि कैसे डेटा, सत्ता तथा अस्मिता का अंतर्संबंध सामाजिक संरचनाओं को प्रभावित करता है। यह दर्शाता है कि डिजिटल प्लेटफॉर्म्स पर दलित-बहुजन समुदायों की सक्रियता एक नए प्रकार के आत्मकथात्मक प्रतिरोध एवं अस्मिता पुनर्निर्माण की प्रक्रिया है। वर्तमान में जातिगत आंकड़े केवल राज्य की उपयुक्त नीतियों हेतु ही आवश्यक नहीं, अपितु सामाजिक दृश्यता, वैधता, संसाधनों के न्यायोचित वितरण हेतु भी अनिवार्य हो चुके हैं। यद्यपि कि मंडल आयोग के बाद की राजनीति, पहचानवाद का उभार, डिजिटल स्पेस में व्याप्त विषमताएँ आदि इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को जटिल बनाती हैं। प्रस्तुत लेख निष्कर्षतः यह प्रतिपादित करता है कि यदि जातिगत जनगणना को वैज्ञानिक, पारदर्शी एवं सामाजिक उत्तरदायित्व से संपन्न किया जाए तो यह भारतीय लोकतंत्र को अधिक समावेशी, न्यायपूर्ण, उत्तरदायी रूप में पुनर्गठित करने की दिशा में निर्णायक हो सकती है।

कुटशब्द: जनगणना, अस्मिता, डेटा, लोकतंत्र, सामाजिक न्याय, डिजिटल असमानता, आत्मकथात्मक प्रतिरोध, पहचान की राजनीति

प्रस्तावना

भारत जैसे बहुजातीय-बहुसांस्कृतिक राष्ट्र में व्याप्त जातिगत संरचना केवल सामाजिक पदानुक्रम की अनौपचारिक व्यवस्था नहीं है बल्कि यह एक सघन रूप से अन्तर्व्यवस्थित, ऐतिहासिक-सांस्कृतिक रूप से निर्मित सामाजिक तंत्र है जो यहाँ नागरिकता, प्रतिनिधित्व, संसाधन वितरण तथा सामाजिक पहचान जैसे लगभग सभी आयामों में गहरे तक व्याप्त है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारत ने स्वयं को समतामूलक एवं धर्मनिरपेक्ष लोकतंत्र के रूप में परिभाषित तो किया किन्तु व्यावहारिक धरातल पर जातिगत असमानता एक अंतर्धारा की भांति वर्तमान में भी कार्यशील है। इस परिप्रेक्ष्य में जब भारत सरकार द्वारा जाति आधारित जनगणना की घोषणा की जाती है तब यह कदम केवल एक सांख्यिकीय सर्वेक्षण की कवायद भर नहीं रह जाता अपितु यह देश में सामाजिक न्याय, पहचान की राजनीति एवं लोकतांत्रिक समावेशन से संबंधित जटिल विमर्शों को भी पुनर्जीवित करता है। 21वीं सदी की डिजिटल क्रांति ने जब 'डेटा' को सत्ता, प्रबंधन के साथ ही निर्णय-निर्माण की केंद्रीय धुरी बना दिया है, ऐसे समय में जातिगत आंकड़े मात्र प्रशासनिक उपकरण न रहकर सामाजिक अस्मिता, प्रतिनिधित्व तथा ऐतिहासिक उत्पीड़न की गणनात्मक अभिव्यक्ति बन जाते हैं। समाजशास्त्रियों के दृष्टिकोण से जाति अब केवल पारंपरिक संस्थागत संरचना नहीं रह गई है अपितु यह आधुनिकता के विविध रूपों यथा शिक्षा, मीडिया, नौकरशाही एवं डिजिटल स्पेस आदि में पुनःनिर्मित तथा पुनरुत्पादित हो रही है। आशीष नंदी (1998) का मानना रहा है कि जाति आधुनिक भारतीय मानस में एक 'सांस्कृतिक संरचना' के रूप में जीवित है, जो आधुनिक शिक्षा एवं संस्थागत लोकतंत्र के भीतर भी अपनी सांस्कृतिक संहिता के माध्यम से सदैव अस्तित्व में बनी रहती है। इसी तरह अविनाश कुमार (2013) जातिगत पहचान को 'राजनीतिक विमर्श का जीवंत तत्व' मानते हुए यह तर्क देते हैं कि आधुनिक भारतीय लोकतंत्र में जातिगत अस्मिता और डेटा के बीच अंतर्संबंध न केवल वंचित समुदायों हेतु आवश्यक सामाजिक मान्यता को जन्म देता है अपितु सत्ता-प्राप्त समुदायों के लिए कष्टप्रद असुविधाजनक सत्य को भी उद्घाटित करता है। परंपरागत रूप से शक्ति-सत्ता से वंचित जातियों द्वारा जातिगत जनगणना की मांग को समझने हेतु इस तथ्य को समझना आवश्यक है कि भारतीय लोकतंत्र अब केवल 'वोट की गणना' नहीं, बल्कि 'पहचान की गिनती' पर भी आधारित हो चुका है जिसमें प्रत्येक सामाजिक समूह अपने ऐतिहासिक बहिष्करण एवं अनुपस्थिति की भरपाई सांख्यिकीय दृश्यता के माध्यम से चाहता है। समाज वैज्ञानिक माइकल वालनर (2001) के अनुसार, "Visibility is the first step toward recognition and redistribution" अर्थात "दृश्यता ही पुनर्वितरण तथा सम्मान

की पहली शर्त होती है"। डिजिटल युग ने इस दृश्यता को और अधिक सशक्त किया है जहाँ उपलब्ध आँकड़ों के माध्यम से सभी समुदाय स्वयं को न केवल परिभाषित कर सकते हैं अपितु अपनी स्थिति का साक्ष्य प्रस्तुत कर सकते हैं साथ ही नीति निर्माण में अपनी भागीदारी की माँग कर सकते हैं। इस प्रक्रिया में जातिगत आंकड़े एक प्रकार से 'सांख्यिकीय अस्मिता' का निर्माण करते हैं जो केवल संख्या ही नहीं अपितु ऐतिहासिक पीड़ा, वंचना एवं सामूहिक स्मृति की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति होती है। यह जनगणना इस मायने में महत्वपूर्ण है क्योंकि यह न केवल शासन के लिए डेटा प्रदान करेगी बल्कि इसके साथ यह भी स्पष्ट करेगी कि कौन-सा समुदाय देश में कितनी संख्या में है तथा उसे राजनीतिक, आर्थिक एवं शैक्षणिक संसाधनों में कितना हिस्सा मिलना चाहिए। इस तरह डिजिटल युग में जाति एवं डेटा का यह गठजोड़ न केवल लोकतंत्र की समावेशिता को पुनर्परिभाषित करता है अपितु यह सामाजिक न्याय की नयी रूपरेखा का भी संकेत देता है। नव उदारवादी युग में अब जबकि राज्य अपनी जिम्मेदारियों को निजीकरण तथा तकनीकी केंद्रीकरण की ओर मोड़ रहा है, तब जातिगत जनगणना की यह पहल यह सुनिश्चित कर सकती है कि सामाजिक न्याय की अवधारणा केवल संवैधानिक आदर्श न रहकर एक कार्यशील नीतिगत तंत्र बने। अतः प्रस्तुत लेख का उद्देश्य इसी अंतर्संबंध जाति, डेटा एवं अस्मिता की समाजशास्त्रीय व्याख्या करना है जहाँ आंकड़े न केवल गणना के औजार हैं अपितु सत्ता, पहचान तथा परिवर्तन के प्रतीक भी हैं।

डिजिटल युग तथा डेटा क्रांति का समाजशास्त्रीय संदर्भ

वर्तमान डिजिटल युग में डेटा की महत्ता को समझने के लिए मिशेल फूको का 'सत्ता और ज्ञान' (Power-Knowledge) संबंधी प्रतिपादन अत्यंत प्रासंगिक है। फूको (1977) ने आधुनिक समाजों में *बायोपावर* (Biopower) की संकल्पना प्रस्तुत की जिसके अंतर्गत राज्य या शासकवर्ग, ज्ञान (विशेषतः सम्बंधित आवश्यक आँकड़ों) के संकलन, वर्गीकरण एवं विश्लेषण के माध्यम से जनसंख्या को नियंत्रित करता है। फूको के अनुसार, "Knowledge is not for understanding; it is for cutting" अर्थात "ज्ञान विश्लेषण का नहीं, नियमन का उपकरण है"। भारत सरकार की जातिगत जनगणना की प्रक्रिया इसी 'निगरानी आधुनिकता' (Surveillance Modernity) की परिणति है जिसमें जाति, वर्ग, धर्म, तथा भाषा जैसे विविध पहचानों को मात्रात्मक रूप में समाहित कर राज्य उन्हें नीतिगत नियंत्रण के अधीन कर सकता है। फूको का *पैनऑप्टिकन* मॉडल एक ऐसी संरचना जहाँ सभी को देखा जा सकता है किन्तु सबको देखने वाला स्वयं अदृश्य रहता है, डिजिटल शासन व्यवस्था में पूर्णतः व्याप्त है। जातिगत आंकड़े यहाँ केवल हाशियाकृत समुदायों को पहचानने का माध्यम नहीं बनेंगे बल्कि वे 'अनुशासित नागरिकता' (Disciplined Citizenship) की संरचना को पोषित करने का औजार भी बन जाएंगे। इस दृष्टिकोण से देखें तो डिजिटल जनगणना केवल तटस्थ तकनीकी प्रक्रिया ही नहीं अपितु एक गूढ़ सत्ता विमर्श का भी अंग है, जिसमें "देखना ही शासित करना" है। इसमें आंकड़ों का संकलन, भंडारण तथा विश्लेषण एक संरचनात्मक अनुशासन का रूप ले लेता है जो लोकतंत्र के भीतर सत्ता के एक गूढ़ अनुशासनात्मक रूप की पुष्टि करता है।

एंथनी गिडेन्स की *'संरचनात्मक द्वैतता'* (Structuration Theory) तथा *'आधुनिकता के उच्चीकरण'* (Reflexive Modernity) की अवधारणाएँ आधुनिक संस्थानों में डेटा की भूमिका को स्पष्ट रूप से रेखांकित करती हैं। गिडेन्स (1990) के दृष्टि में, आधुनिक समाज एक 'संगठित अविश्वास' (Organized Skepticism) पर आधारित होता है जहाँ कि परंपरा की तुलना में साक्ष्य एवं आंकड़े सामाजिक नियोजन तथा सार्वजनिक नीति निर्माण का आधार बनते हैं। आधुनिकता की यह प्रक्रिया जिसमें व्यक्तियों तथा संस्थानों को निरंतर आत्म-निरीक्षण करना पड़ता है वह डेटा के माध्यम से ही संभव होती है। भारत में संभावित जातिगत जनगणना इसी प्रक्रिया का हिस्सा बन जाती है जहाँ प्रत्येक सामाजिक समूह की पहचान तथा अवस्थिति को मात्रात्मक रूप से परिभाषित किया जाता है जिससे कि नीति निर्माण अधिक 'तथ्यपरक' हो सके। किन्तु गिडेन्स यहाँ यह भी स्वीकार करते हैं कि डेटा का यह केंद्रीकरण केवल सशक्तिकरण नहीं अपितु नियंत्रण का भी उपकरण बन सकता है (गिडेन्स, 1991)। डिजिटल डेटा केवल सूचना नहीं बल्कि वह संस्थागत संरचनाओं एवं प्रक्रियाओं में समाहित होकर सामाजिक यथार्थ को परिभाषित करने लगता है। इस दृष्टिकोण से जातिगत आंकड़े केवल जनसंख्या आधारित आंकड़े नहीं अपितु देश में पहचान की राजनीति, संसाधनों के आवंटन, सामाजिक प्रतिस्पर्धा आदि के प्रमुख स्रोत बन जाते हैं। अतः डिजिटल युग में आंकड़े सामाजिक जीवन के पुनर्संरचनाकार के रूप में उभरते हैं।

इन समाजशास्त्रीय अवधारणाओं से सन्दर्भ लेते हुए यदि भारत के संदर्भ में जनगणना को देखा जाए तो एक और जटिल यथार्थ सामने आता है जिसे 'डिजिटल कास्टिज्म' (Digital Casteism) कहा जा सकता है। यह संकल्पना हमारा ध्यान इस तरफ खींचती है कि किस तरह डिजिटल स्पेस भी सामाजिक भेदभाव एवं वर्चस्व के पुराने रूपों को नए माध्यमों में पुनरुत्पादित करता है। जिन समुदायों के पास तकनीकी साक्षरता, इंटरनेट संसाधन, डेटा निर्माण के उपकरण नहीं हैं वे वर्तमान बहुविध डिजिटल विमर्श से अनुपस्थित रहते हैं जिस कारण उनकी पहचान एवं मांगें अदृश्य बनी रहती हैं। जिसके परिणामस्वरूप न केवल सूचना तक असमान पहुँच रहती है अपितु नीति निर्माण की प्रक्रिया में भी गहरी असमानता उत्पन्न होती है। भारत जैसे देश में डिजिटल विभाजन (Digital Divide) केवल तकनीकी समस्या नहीं है बल्कि यह एक सामाजिक संरचना की भांति है जो जाति, वर्ग तथा लिंग के अनुरूप ही कार्य करती है। दलित, आदिवासी के साथ ही अन्य पिछड़े वर्गों के प्रतिनिधित्व की अनुपस्थिति डिजिटल आंकड़ा उत्पादन एवं वितरण की प्रक्रिया को भारत में 'सवर्णीकृत' कर देती है। इस तरह देखें तो 'डिजिटल असमानता' केवल आर्थिक अथवा तकनीकी चुनौती नहीं है अपितु यह एक गहन समाजशास्त्रीय प्रश्न है जो लोकतंत्र, सहभागिता-सामाजिक न्याय की बुनियाद को प्रभावित करता है। यदि जातिगत जनगणना इन डिजिटल असमानताओं को पहचान कर नीति निर्माण में न्यायसंगत सुधार कर सके तभी वह एक वास्तविक समावेशी उपकरण बन सकती है अन्यथा यह मात्र डेटा संग्रहण की एक और औपचारिक प्रक्रिया बनकर रह जाएगी जो सामाजिक यथास्थिति को बनाए रखने का औजार बन सकती है।

जातिगत जनगणना: भारतीय संदर्भ में ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

भारत में जातिगत जनगणना का इतिहास औपनिवेशिक शासन काल से प्रारंभ होता है जब ब्रिटिश राज के दौरान वर्ष 1871 में पहली बार व्यवस्थित जनगणना की प्रक्रिया आरंभ हुई थी किन्तु जाति को व्यवस्थित रूप से दर्ज करने की प्रक्रिया 1901 से आरंभ हुई जो 1931 की जनगणना तक चली। 1931 की जनगणना भारत की वह अंतिम जनगणना थी जिसमें जातियों की पूर्ण रूप से गणना की गई थी जिसके बाद स्वतंत्र भारत में, 1951 से लेकर अब तक की जनगणनाओं में जातिगत जानकारी केवल अनुसूचित जातियों-जनजातियों (SC/ST) तक सीमित रही जबकि अन्य पिछड़ा वर्ग (OBC) तथा अन्य जातियों की संख्या का कोई व्यवस्थित आंकड़ा उपलब्ध नहीं कराया गया। जातियों की गणना संबंधी यह स्थिति सामाजिक न्याय की नीतियों के क्रियान्वयन में एक गंभीर बाधा के रूप में देखी गई है क्योंकि जब तक किसी सामाजिक समूह की संख्यात्मक स्थिति स्पष्ट नहीं होती तब तक उनके लिए प्रभावी प्रतिनिधित्व तथा समुचित संसाधन सुनिश्चित करना संभव नहीं होता है। विडंबना तो यह है कि जाति, जो भारतीय समाज का एक केंद्रीय संरचनात्मक तत्व रहा है उसे स्वतंत्रता के पश्चात एक 'गैर-जरूरी' तत्व मानते हुए नीति निर्माण की प्रक्रिया से बाहर रखा गया। यह दृष्टिकोण न केवल सामाजिक यथास्थिति को बनाए रखने वाला था अपितु यह सत्ता-संरचना में पहले से ही मौजूद वर्चस्वशाली जातियों के हितों की रक्षा का एक रणनीतिक औजार भी बन गया (डिर्क्स, 2001)। भारतीय समाजशास्त्र के अग्रणी विद्वान जी. एस. घुर्ये ने जाति को विश्लेषण की दृष्टि से सांस्कृतिक, सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक तत्वों के समुच्चय के रूप में देखा जिस विषयक उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ *Caste and Race in India* (1932) में स्पष्टतः उल्लेख किया कि "जाति का विघटन नहीं हुआ है, बल्कि उसका आधुनिकीकरण हुआ है।" इस कथन में वह इंगित करते हैं कि आधुनिकता, शहरीकरण,औद्योगीकरण जैसी

प्रक्रियाएं जाति को समाप्त करने के बजाय सिर्फ उसे नए रूप में व्यवस्थित कर रही हैं। घुर्ये का यह मत था कि जाति व्यवस्था केवल ग्रामीण भारत की समस्या नहीं है अपितु यह नगरीय संरचनाओं में भी नये रूपों में सक्रिय है जहाँ जातिगत आधार पर सामाजिक पूंजी, पेशागत अवसर तथा शिक्षा तक पहुँच नियंत्रित होती है। उन्होंने यह भी कहा कि समाजशास्त्रियों ने जाति को केवल एक धार्मिक व्यवस्था के रूप में देखा किंतु व्यावहारिक जीवन में जाति एक बहुस्तरीय अनुभव है जो विवाह, भोजन, आवास, शिक्षा, राजनीतिक प्रतिनिधित्व से लेकर मीडिया की भाषा तक में दृष्टिगोचर होता है। अतः जातिगत जनगणना के प्रति उदासीनता वस्तुतः उस शक्ति-संरचना का हिस्सा है जो आधुनिकीकरण के नाम पर जातिगत भेदभाव की वास्तविकता को षडयंत्रपूर्ण ढंग से अस्पष्ट रखने की चेष्टा करती है। घुर्ये के विश्लेषण से सन्दर्भ लेने पर यह स्पष्ट होता है कि यदि जाति आधुनिक भारत की संस्थाओं में अंतर्भूत हो चुकी है तो उसके मात्रात्मक अभिलेखन को टालना केवल एक वैचारिक भ्रांति ही नहीं बल्कि एक राजनीतिक चूक भी है।

बाबासाहब डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने जाति को भारतीय समाज की सबसे गहरी सामाजिक समस्या के रूप में रेखांकित किया जिनके अनुसार जाति एक ऐसा सामाजिक बहिष्करण है जो मनुष्य की नैसर्गिक समानता के सिद्धांत को बाधित करता है एवं इसे धार्मिक आस्था तथा सामाजिक परंपरा के नाम पर औचित्य प्रदान किया जाता रहा है। अम्बेडकर ने कहा था कि "जाति केवल सामाजिक विभाजन नहीं, यह मनुष्य की आत्मा का वध है" (अम्बेडकर, 1936/2014)। उन्होंने बारंबार इस बात पर बल दिया कि जाति व्यवस्था को समाप्त करने हेतु केवल वैचारिक परिवर्तन पर्याप्त नहीं है अपितु उसके लिए योजनात्मक हस्तक्षेप भी आवश्यक है। उन्होंने जातिगत जनगणना को सामाजिक न्याय की पूर्वशर्त के रूप में देखा क्योंकि उनके अनुसार जब तक जातियों की संख्यात्मक स्थिति स्पष्ट नहीं होगी तब तक संसाधनों के समुचित न्यायसंगत वितरण की नींव नहीं रखी जा सकती। अम्बेडकर की *Annihilation of Caste* (1936) में वर्णित दृष्टिकोण से यह स्पष्ट हो जाता है कि लोकतंत्र के मूल में यदि प्रतिनिधित्व तथा समावेशिता है तो जातिगत जनगणना उसके लिए एक अपरिहार्य औजार बन जाती है। उन्होंने यह भी आगाह किया कि जातिगत असमानता को यदि अनदेखा किया गया तो भारतीय लोकतंत्र केवल बहुमत की तानाशाही बनकर रह जाएगा जहाँ सत्ता के केंद्र में परंपरागत रूप से वर्चस्वशाली रही जातियाँ तो होंगी किन्तु वंचितों की आवाज़ आंकड़ों के अभाव में लुप्त हो जाएगी। अम्बेडकर की यह चेतावनी आज भी उतनी ही प्रासंगिक है, विशेषकर उस दौर में जब डिजिटल तकनीक एवं आंकड़ों पर आधारित प्रशासनिक प्रणालियाँ समाज के पुनर्रचना में निर्णायक भूमिका निभा रही हैं।

लोकतंत्र तथा नीतिगत योजना में जातिगत डेटा की भूमिका

भारतीय लोकतंत्र में नीति निर्माण की प्रक्रिया बहुस्तरीय जटिलताओं से युक्त रही है जिसमें आंकड़ों की निर्णायक भूमिका है। लोकतंत्र का सार केवल प्रतिनिधित्व तक सीमित नहीं होता बल्कि यह राज्य की जवाबदेही, पारदर्शिता एवं समावेशिता के सिद्धांतों पर भी आधारित होता है किन्तु जब सामाजिक संरचनाओं में ऐतिहासिक रूप से विद्यमान असमानता, बहिष्करण के साथ बहुस्तरीय वंचना विद्यमान हो तब नीतियों का 'सार्वजनिक' अथवा 'तटस्थ' होना अपने आप में एक भ्रम बन जाता है। यही कारण है कि जातिगत जनगणना को सामाजिक न्याय की प्रक्रिया का अपरिहार्य आधार माना जा रहा है क्योंकि यह उन समुदायों को दृश्यता प्रदान करेगा जो सदियों से शासन के आँकड़ों में अदृश्य ही रहे हैं। आंकड़ा-आधारित निर्माण का आशय केवल आँकड़े इकट्ठा करने से नहीं है अपितु उन आँकड़ों के माध्यम से सत्ता-संरचना की असमानताओं को पहचाना जाना तथा उन्हें संबोधित किया जाना है। सार्वजनिक नीति तब तक न्यायोचित नहीं हो सकती जब तक वह यथार्थ के आंकड़ों पर आश्रित न हो। यदि जातिगत आंकड़े अनुपस्थित हैं तो यह मानना कि आरक्षण, शिक्षा, स्वास्थ्य तथा रोजगार की नीतियाँ समावेशी होंगी केवल सैद्धांतिक कल्पना मात्र होगी। भारत जैसे बहुजातीय श्रेणीबद्ध समाज में जब तक जाति-आधारित आंकड़ों की स्पष्टता नहीं होगी तब तक सामाजिक परिवर्तन केवल घोषणाओं तक ही सीमित रहेगा। योगेंद्र यादव, जो एक समाजशास्त्री, चुनाव विश्लेषक तथा सामाजिक चिंतक के रूप में प्रतिष्ठित हैं, जातिगत आंकड़ों की अनुपस्थिति को सामाजिक न्याय की विफलता का प्रमुख कारण मानते हैं। उनका तर्क है कि जब तक हम यह नहीं जान लेते कि किसी विशेष समुदाय की वास्तविक सामाजिक, शैक्षणिक तथा आर्थिक स्थिति क्या है, तब तक उनके लिए बनाई जाने वाली योजनाएँ केवल कोरे अनुमान एवं राजनीतिक समझौतों पर आधारित होंगी (यादव, 2010)। यादव यह भी कहते हैं कि भारत में सामाजिक न्याय की समूची संरचना प्रमुख रूप से OBC आरक्षण का ढाँचा ऐसे आँकड़ों पर आधारित है जो 1931 की जनगणना में दिए गए अनुपात पर टिके हुए हैं यद्यपि कि अब तक समाज में व्यापक परिवर्तन आ चुके हैं। वे इस स्थिति को डेटा शून्यता का लोकतंत्र कहते हैं, एक ऐसा लोकतंत्र जहाँ नीतियाँ उन आंकड़ों के आधार पर बनाई जाती हैं जो या तो अस्तित्व में नहीं हैं अथवा जानबूझकर गोपनीय रखे गए हैं। जातिगत जनगणना के पक्ष में उनका यह आग्रह केवल न्याय की भावना से प्रेरित नहीं है अपितु यह लोकतंत्र की वैधता को सुदृढ़ करने का औजार है। उनके अनुसार सामाजिक न्याय बिना पर्याप्त आंकड़ों के एक अंधेरे में चलाया गया आंदोलन बन जाता है जो अंततः या तो स्वार्थ की राजनीति में बदल जाता है अथवा फिर प्रतीकात्मकता के स्तर पर ही सीमित रह जाता है। ए. आर. देसाई मार्क्सवादी दृष्टिकोण से भारतीय समाज की व्याख्या करते हुए जातिगत विमर्श को केवल सामाजिक नहीं अपितु आर्थिक-वर्गीय परिप्रेक्ष्य से देखने पर बल देते हैं। उनके मत से यदि सन्दर्भ लिया जाए तो जातिगत जनगणना की प्रक्रिया को केवल सांस्कृतिक पहचान अथवा प्रतिनिधित्व तक सीमित कर उसमें आर्थिक-सामाजिक संदर्भों की उपेक्षा यदि की गई तो यह प्रक्रिया एक सतही राजनीति का हिस्सा बन जाएगी (देसाई, 1986)। देसाई यह मानते हैं कि भारत की सामाजिक असमानता जाति तथा वर्ग के अन्तर्गठित संबंधों से उत्पन्न होती है जिसे केवल सांस्कृतिक स्तर पर हल नहीं किया जा सकता इस हेतु उनका सुझाव है कि जातिगत आंकड़ों के साथ-साथ वर्गीय एवं आर्थिक आंकड़ों को भी समान महत्व दिया जाना चाहिए जिससे कि नीतियां केवल पहचान की राजनीति को संतुष्ट करने वाली न हों अपितु वंचित वर्गों हेतु ठोस सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन ला सकें। देसाई का यह दृष्टिकोण हमें यह समझने में मदद करता है कि जातिगत आंकड़े यदि एक समग्र समाजशास्त्रीय ढांचे में प्रयुक्त हों तभी वे लोकतंत्र को अधिक उत्तरदायी तथा समावेशी बना सकते हैं।

अस्मिता तथा पहचान की राजनीति: डिजिटल प्लेटफॉर्म्स की भूमिका

डिजिटल प्लेटफॉर्म्स ने 21वीं सदी के सामाजिक विमर्श को एक ऐसा आयाम प्रदान किया है जहाँ अभिव्यक्ति की पूर्ववर्ती सीमाएँ लुप्तप्राय हो गई हैं। वर्तमान युग केवल तकनीकी संक्रमण का नहीं बल्कि आत्म-परिभाषा की एक नवीन प्रक्रिया का भी साक्षी बन रहा है जब अस्मिता-पहचान के प्रश्न पुनर्परिभाषित हो रहे हैं। विशेषतः दलित बहुजन समुदायों हेतु डिजिटल माध्यमों ने एक ऐसा मंच उपलब्ध करा दिया है जहाँ वे अपनी ऐतिहासिक चुप्पी को तोड़ते हुए आत्मकथात्मक प्रतिरोध, सांस्कृतिक पुनर्रचना के साथ ही सामाजिक न्याय की मांगों को सशक्त स्वर प्रदान कर रहे हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि (1997) ने *जूठन* में जिस प्रकार वर्णित किया कि किस तरह जन्म के आधार पर मनुष्यता को अपवर्जित कर दिया जाता है, उनका वह अनुभव आज डिजिटल माध्यमों पर सामूहिक स्मृति तथा प्रतिरोध के रूप में पुनः व्यक्त हो रहा है। वाल्मीकि के शब्दों में "हमारा इतिहास लिखा नहीं गया, हम उसे अब लिखेंगे" यही उद्घोष डिजिटल अस्मिता विमर्श का केंद्रीय भाव बन चुका है। यह मंच उस मौन बहुसंख्यक का उद्घोष है जो अबतक सामाजिक वर्चस्व के ग्रंथों में अनुपस्थित ही था। डिजिटल प्लेटफ़ॉर्म अब न केवल वंचितों की उपस्थिति को सुनिश्चित करते हैं अपितु वे एक वैकल्पिक 'प्रसारणीय जनसंसार' (Counter-public sphere) की भी रचना करते हैं जहाँ स्व-वर्णन, आत्मानुभूति एवं असहमति की आवाज़ें बिना बिचौलियों के सामने आती हैं (फ्रेज़र, 1990)। इस नव-संवेदनात्मक युग में सूरज येंगड़े जैसे चिंतक-लेखक इस डिजिटल अस्मिता के पुनर्निर्माण को न केवल विचारात्मक आधार प्रदान करते हैं बल्कि इसके साथ ही उसे एक वैश्विक विमर्श में भी सम्मिलित करते हैं। येंगड़े (2019) अपनी कृति *Caste Matters* में लिखते हैं कि

"दलित होना केवल पीड़ा नहीं है, वह एक राजनीतिक स्थिति है, जिसमें मुक्ति की संभावना निहित है"। उनका यह कथन इस ओर संकेत करता है कि डिजिटल मंच केवल दुःख-वर्णन अथवा पीड़ावाचक नहीं हैं अपितु वे भविष्यगामी, आकांक्षी एवं परिवर्तनकारी अस्मिता निर्माण के औजार हैं। दलित युवाओं द्वारा नित बनाए जा रहे यूट्यूब चैनल, इंस्टाग्राम पेज, एक्स हैशटैग्स (#DalitLivesMatter, #JaiBhim), तथा ब्लॉग्स आदि एक ऐसी 'सांस्कृतिक पुनःप्राप्ति' (Cultural reclamation) की प्रक्रिया का संकेत करते हैं जो अस्मिता की पुनर्रचना से सम्बद्ध होती है। यहाँ पर जातीय अस्मिता अब सांस्कृतिक गर्व, बौद्धिक अधिकार एवं सामाजिक उपस्थिति का प्रतीक बन रही है। यह प्रतिरोध अब सड़कों से अधिक स्क्रीन पर घटित हो रहा है जहाँ पर प्रत्येक 'लाइक', 'शेयर' तथा 'व्यू' एक सांस्कृतिक दावे एवं प्रतिरोध की डिजिटल मुद्रा बन चुका है। येंगड़े का तर्क है कि डिजिटल स्पेस में दलित होना एक एक्टिव पोजिशन है जो केवल एक श्रेणी नहीं अपितु एक जीवंत संघर्ष है जो अपने लिए स्थान, संसाधन तथा आत्म-गौरव पुनः प्राप्त करना चाहता है (येंगड़े, 2019)। इस डिजिटल राजनीतिकता ने परम्परागत रूप से 'अदृश्य समुदायों' को एक नई दृश्यता दी है जो जनगणनाओं और पारंपरिक विमर्शों में प्रायः अनुपस्थित थी। चंद्रिका प्रसाद जिज्ञासु जैसे पूर्ववर्ती दलित इतिहासकारों की चिंतनधारा वर्तमान डिजिटल युग में एक नई पीढ़ी के माध्यम से पुनःजीवित हो रही है। जिज्ञासु ने अपने साहित्य एवं शोधों में प्राचीन भारत के इतिहास में दलितों की भूमिका को पुनःस्थापित करने का प्रयत्न किया जिसे मुख्यधारा के इतिहास ने सदैव ही उपेक्षित किया। आज डिजिटल मंचों पर यह कार्य कई स्तरों पर जारी है यथा फेसबुक आधारित इतिहास मंच, एक्स थ्रेड्स, स्वतंत्र दलित वेब जर्नल एवं यूट्यूब विडियो-पॉडकास्ट, डाक्यूमेंट्री आदि आधारित शोध प्रस्तुतियाँ। ये माध्यम अब 'मूक इतिहास' (Silenced History) को पुनः मुखरित कर रहे हैं। आत्मकथात्मक प्रतिरोध की यह लहर अब केवल साहित्यिक अथवा अकादमिक सीमाओं में नहीं अपितु विभिन्न दृश्य-श्रव्य माध्यमों के माध्यम से जन-जन तक पहुँच रही है। यह वही प्रतिरोध है जिसे वाल्मीकि ने लिखा, येंगड़े ने सिद्ध किया एवं जिसे अब लाखों लोग अपने डिजिटल उपस्थिति के माध्यम से जीवंत कर रहे हैं। इन आधुनिक मंचों पर जाति अब 'कठघरे' में नहीं अपितु 'प्रतिरोध के मंच' पर है। इस नवोन्मेषी डिजिटल अस्मिता के उद्भव ने जाति को केवल सामाजिक संरचना नहीं बल्कि इसके साथ राजनीतिक अस्मिता, सांस्कृतिक पुनर्निर्माण एवं नैतिक दावा बना दिया है। यह प्रक्रिया केवल जातिगत जनगणना की मांग को सशक्त नहीं करती अपितु यह उस सामाजिक पुनर्निर्माण की दिशा में भी संकेत करती है जहाँ 'गिनती में आना' केवल सांख्यिकीय नहीं अपितु आत्मसम्मान का प्रश्न बन जाता है।

जाति जनगणना से उत्पन्न चुनौतियाँ तथा आलोचनाएं

जातिगत जनगणना की प्रक्रिया जहाँ एक ओर सामाजिक न्याय एवं प्रतिनिधित्व की पुनर्संरचना की संभावनाओं को जन्म देती है तो वहीं दूसरी ओर यह कुछ जटिल चुनौतियों तथा आलोचनाओं को भी जन्म देती है। विशेष रूप से मंडल आयोग की अनुशंसाओं के बाद जिस प्रकार आरक्षण नीति के आधार पर राजनीतिक ध्रुवीकरण हुआ उससे यह स्पष्ट हो गया कि जातिगत आंकड़े केवल प्रशासनिक उपकरण नहीं अपितु राजनीतिक हथियार भी बन सकते हैं। 1990 में जब मंडल आयोग की सिफारिशों को लागू किया गया तथा पिछड़ा वर्ग आरक्षण को स्वीकृति मिली तब उच्च कही जाने वाली जातियों द्वारा उसका तीव्र विरोध यह दर्शाता है कि भारत में जाति, वर्ग तथा सत्ता के बीच गहरा अन्तर्संबंध है। मंडल के बाद का विमर्श जातिगत आंकड़ों की वैधता, उद्देश्य एवं उपयोगिता पर आधारित राजनीतिक संघर्ष में परिवर्तित हो गया जिसमें कि आंकड़े एक प्रतीकात्मक 'हथियार' के रूप में प्रयुक्त हुए। इस विषय में जातिगत जनगणना की आलोचना यह कहकर की जाती है कि इससे सामाजिक ध्रुवीकरण को बढ़ावा मिलेगा एवं जातीय पहचान को अत्यधिक राजनैतिक महत्त्व मिल जाएगा जो एक समावेशी लोकतंत्र के लिए विघटनकारी साबित हो सकता है (जाफ्रेलोत, 2003)। अतः यहाँ प्रश्न यह नहीं है कि क्या जातिगत आंकड़े आवश्यक हैं अपितु यह है कि क्या राज्य एवं राजनीतिक दल उन्हें विवेकपूर्ण ढंग से सामाजिक न्याय प्रदान करने हेतु प्रयोग करेंगे अथवा वे पुनः मंडल जैसी प्रतिक्रिया-आधारित राजनीति का मार्ग प्रशस्त करेंगे। राजनीतिक समाजशास्त्र के मर्मज्ञ चिंतक रजनी कोठारी ने अपने ऐतिहासिक ग्रंथ *Politics in India* (1970) में 'पहचान की राजनीति' (Politics of Identity) को लोकतंत्र के भीतर विद्यमान 'संवेदनशील असंतुलन' (Fragile Equilibrium) के रूप में चिह्नित किया है। कोठारी का इस विषयक यह तर्क था कि लोकतंत्र की वैधता तब तक बनी रहती है जब तक वह विविधताओं को समाहित करते हुए सत्ता के तंत्र में संतुलन बनाए रखता है किंतु जब जातीय पहचानें सामाजिक न्याय की वैध मांग से हटकर सत्तालोभ एवं विभाजन की राजनीति में परिवर्तित हो जाती हैं तब लोकतंत्र का मूल भाव यथा सहभागिता, समानता तथा बंधुत्व बाधित होने लगता है। कोठारी की दृष्टि में पहचान आधारित राजनीति यदि केवल प्रतिद्वंद्वात्मक वर्चस्व की प्रतिस्पर्धा में सिमट जाए तो वह न केवल लोकतंत्र को एक संख्यात्मक खेल बना देती है अपितु नैतिक मूल्यों तथा वैचारिक विमर्श को हाशिए पर भी धकेल देती है (कोठारी, 1970)। यहाँ जातिगत जनगणना के संदर्भ में यह चेतावनी अत्यंत प्रासंगिक हो जाती है कि यदि आंकड़ों का प्रयोग केवल आरक्षण की मांग बढ़ाने या सत्ता-साझेदारी की पुनर्संरचना हेतु किया जाएगा एवं उसमें जातियों की भीतरी विषमता यथा दलितों-आदिवासियों में उपवर्गीकरण या पिछड़े वर्गों के अंदर द्विजीकरण की उपेक्षा होगी तो इससे सामाजिक न्याय के बजाय 'प्रतिक्रियावादी पहचानवाद' (Reactive Identitarianism) को बढ़ावा मिलेगा। कोठारी का लोकतंत्र की अंतःवस्तु पर आधारित यह दृष्टिकोण हमें समझने में सहायक होता है कि आंकड़ों की राजनीति में विवेक, उत्तरदायित्व तथा नैतिकता का समावेश अनिवार्य है। जातिगत जनगणना की आलोचना का एक अन्य विमर्श यूरोपीय समाजशास्त्र के महत्वपूर्ण विचारक युर्गेन हैबरमास के 'पब्लिक स्फेयर' (Public Sphere) सिद्धांत के आलोक में किया जा सकता है। हैबरमास (1962) के अनुसार लोकतंत्र की सार्थकता तभी संभव है जब नागरिकों को एक समतुल्य सार्वजनिक मंच प्राप्त हो जहाँ कि वे मुक्त रूप से विमर्श कर सकें, अपनी असहमति प्रकट कर सकें एवं तर्कसंगत संवाद में भाग ले सकें। भारतीय डिजिटल परिदृश्य में विशेषतः सोशल मीडिया तथा इंटरनेट प्लेटफॉर्म्स पर जातिगत अस्मिता एवं जनगणना के प्रश्नों को लेकर होने वाला विमर्श इस आदर्श सार्वजनिक क्षेत्र से बहुत दूर प्रतीत होता है। डिजिटल स्पेस में वर्चस्वशाली जातियों, शहरी मध्यवर्ग एवं अंग्रेज़ी भाषी अभिजात्य वर्ग की उपस्थिति अधिक है जबकि दलित, आदिवासी, पिछड़े तथा ग्रामीण समुदायों की आवाज़ें या तो अनुपस्थित रहती हैं अथवा अल्पसंख्यक बन जाती हैं। इस असमानता को 'डिजिटल जातिवाद' (Digital Casteism) कहना उचित होगा, जहाँ प्लेटफॉर्म उपलब्ध तो हैं किन्तु अभिव्यक्ति की समानता नहीं है। हैबरमास के अनुसार यदि सार्वजनिक विमर्श केवल एक वर्ग के हितों तथा भाषिक-सांस्कृतिक पूंजी पर आधारित हो तो वह लोकतांत्रिक नहीं रह जाता अपितु 'प्रतिनिधि जनसंसार' (Representative Public Sphere) बन जाता है एक ऐसा मंच जहाँ कुछ बोलते हैं और शेष केवल श्रोता रहते हैं (हैबरमास, 1962/1989)। इसी तर्क से जातिगत जनगणना के पक्ष या विपक्ष में होने वाले डिजिटल विमर्शों को देखना चाहिए: क्या वे सबकी भागीदारी सुनिश्चित कर रहे हैं अथवा केवल सामाजिक रूप से सशक्त वर्गों की धारणाओं का ही प्रसार कर रहे हैं? इस प्रश्न का उत्तर स्वयं इस पूरी बहस की प्रामाणिकता को स्पष्ट कर देता है।

निष्कर्ष

जातिगत जनगणना को लेकर उत्पन्न बहसें केवल आंकड़ों के संकलन अथवा प्रशासनिक दक्षता की नहीं हैं अपितु वे भारतीय समाज में व्याप्त असमानताओं के स्वरूप, लोकतंत्र की गुणवत्ता तथा सामाजिक न्याय की वास्तविकता से संबंधित हैं। इस आलेख के उपर्युक्त समस्त विमर्शों के आलोक में यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि डिजिटल युग में जाति-आधारित आंकड़े केवल संख्यात्मक उपकरण नहीं हैं बल्कि वे सामाजिक यथार्थ की पारदर्शी अभिव्यक्ति, ऐतिहासिक बहिष्करण की प्रतिपूर्ति एवं परंपरागत रूप से वंचित रही जातियों की प्रतिनिधित्व के दावों की वैधता सुनिश्चित करने का सशक्त माध्यम बन सकते हैं किंतु यह प्रक्रिया भी तभी सार्थक होगी जब यह आंकड़े 'सत्ता-संरचना' के पुनरुत्पादन के

लिए नहीं अपितु भारतीय समाज के सामाजिक पुनर्गठन हेतु प्रयुक्त किए जाएं। यदि राज्य जातिगत आंकड़ों का प्रयोग केवल वोटबैंक राजनीति, आरक्षण की सीमित बहस, सांप्रदायिक विभाजन आदि हेतु करेगा तो यह प्रयास सामाजिक न्याय के बजाय सामाजिक विघटन को ही पुनः जन्म देगा किन्तु यदि इन्हें शिक्षा, स्वास्थ्य, आवास, रोजगार, डिजिटल साक्षरता जैसी योजनाओं के समावेशी क्रियान्वयन हेतु प्रयुक्त किया जाए तो यह 'डेटा आधारित समावेशी लोकतंत्र' की आधारशिला बन सकता है। नीतिगत दृष्टिकोण से भी यह आवश्यक है कि जातिगत जनगणना को केवल अनुसूचित जाति, जनजाति तथा अन्य पिछड़ा वर्ग तक सीमित न रखते हुए पूरे समाज की जातीय संरचना को पारदर्शी रूप में प्रस्तुत किया जाए जिससे न केवल विभिन्न सामाजिक समूहों की वर्तमान स्थिति का यथार्थपरक मूल्यांकन संभव होगा अपितु आरक्षण, विशेष योजनाओं एवं संसाधनों के न्यायसंगत वितरण हेतु मजबूत आधार भी निर्मित होगा। इसके साथ ही इस आंकड़ा-संग्रहण को वर्गीय, लिंग आधारित तथा क्षेत्रीय आयामों से भी जोड़ा जाना चाहिए ताकि सामाजिक न्याय के बहुआयामी स्वरूप की समझ विकसित हो सके। डिजिटल तकनीक के इस युग में जब डेटा संकलन, विश्लेषण, नीति निर्माण हेतु उन्नत संसाधन उपलब्ध हैं तब जातिगत आंकड़े एक समावेशी एवं उत्तरदायी शासन तंत्र के निर्माण में सहायक सिद्ध हो सकते हैं किन्तु इस हेतु यह सुनिश्चित करना होगा कि डेटा संग्रहण की प्रक्रिया पारदर्शी, वैज्ञानिक, सशक्त नागरिक निगरानी प्रणाली के अंतर्गत हो। आंकड़ों का दुरुपयोग, गोपनीयता का उल्लंघन और जातीय ध्रुवीकरण की प्रवृत्तियाँ इस प्रक्रिया को अविश्वसनीय बना सकती हैं। इसलिए डेटा के साथ नैतिक उत्तरदायित्व का समावेश अत्यंत आवश्यक हो जाताहै। यदि जातिगत आंकड़े नागरिकता की पुनःकल्पना की दिशा में प्रयुक्त हों जहाँ कि व्यक्ति को उसकी सामूहिक पहचान के साथ-साथ उसकी व्यक्तिगत गरिमा तथा अधिकार भी प्राप्त हो तभी वे लोकतंत्र को सशक्त कर सकते हैं। इस परिप्रेक्ष्य से जातिगत जनगणना केवल राज्य की जिम्मेदारी नहीं अपितु नागरिक समाज, शिक्षाविदों, बुद्धिजीवियों तथा मीडिया की सम्मिलित चेतना का विषय भी है। अतः निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि वर्तमान डिजिटल युग में जातिगत जनगणना यदि सटीक, पारदर्शी एवं उत्तरदायी रीति से संपन्न होती है तो वह भारतीय लोकतंत्र की अधूरी परियोजनाओं यथा समता, स्वतंत्रता एवं बंधुत्व की पूर्ति की दिशा में एक सार्थक प्रयास सिद्ध हो सकती है। आंकड़े केवल संख्या नहीं, वे स्मृति हैं; वे इतिहास हैं; वे यथार्थ हैं जिन्हें अस्वीकार करके हम केवल अपने लोकतंत्र को ही नहीं, अपनी मनुष्यता को भी विकृत करते रहे हैं। जनगणना के माध्यम से यदि हम वंचितों की आवाज़, अनुभव तथा आकांक्षाओं को राष्ट्र कीआगामी नीतियों में स्थान दे सकें तो यह आंकड़ा-आधारित युग, एक अस्मिता-संवेदनशील, न्यायसंगत एवं समावेशी राष्ट्र के निर्माण में रूपांतरित हो सकता है। यही वह संभावना है जहाँ डिजिटल तकनीक, समाजशास्त्र तथा लोकतंत्र का त्रिवेणी-संगम घटित हो सकता है बशर्ते कि हम आंकड़ों के पीछे छिपे मनुष्यों को देखना न भूलें।

संदर्भ

1. कुमार, ए. (2013). कास्ट एंड पॉलिटिक्स इन इंडिया: कंटेम्पररी पर्सपेक्टिव्स. न्यू दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
2. नंदी, आ. (1998). एग्ज़ाइल्ड एट होम. दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
3. वाल्ज़र, एम. (2001). पॉलिटिक्स एंड पैशन: टुवर्ड ए मोर इगालिटेरियन लिबरलिज़्म. येल यूनिवर्सिटी प्रेस।
4. फूको, म. (1977). डिसिप्लिन एंड पनिश: द बर्थ ऑफ द प्रिज़न. विंटेज बुक्स।
5. गिडेन्स, ए. (1990). द कांसिक्वेंसेज़ ऑफ मॉडर्निटी. स्टैनफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
6. गिडेन्स, ए. (1991). मॉडर्निटी एंड सेल्फ-आइडेंटिटी: सेल्फ एंड सोसाइटी इन द लेट मॉडर्न एज. पॉलीटी प्रेस।
7. अम्बेडकर, बी. आर. (1936/2014). एन्हाइलेशन ऑफ कास्ट. न्यू दिल्ली: नवयाना।
8. डिर्क्स, एन. बी. (2001). कास्ट्स ऑफ माइंड: कोलोनियलिज़्म एंड द मेकिंग ऑफ मॉडर्न इंडिया. प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस।
9. घुर्ये, जी. एस. (1932). कास्ट एंड रेस इन इंडिया. बॉम्बे: पॉपुलर बुक डिपो।
10. बेते, आ. (2002). एंटी-ब्राह्मिनिज़्म एंड आफ्टर. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
11. यादव, य. (2010). रिविज़िटिंग रिज़र्वेशन्स: ए डेटा-ड्रिवन डेमोक्रेसी. सेमिनार (615)।
12. देसाई, ए. आर. (1986). स्टेट एंड सोसाइटी इन इंडिया: एसेज़ इन डिसेंट. पॉपुलर प्रकाशन।
13. देशपांडे, स. (2011). कंटेम्पररी इंडिया: ए सोशियोलॉजिकल व्यू. पेंगुइन बुक्स।
14. फ्रेज़र, एन. (1990). रीथिंकिंग द पब्लिक स्फीयर: ए कंट्रिब्यूशन टू द क्रिटीक ऑफ एक्चुअली एग्ज़िस्टिंग डेमोक्रेसी. सोशल टेक्स्ट, (25/26), 56–80।
15. वाल्मीकि, ओ. (1997). जूठन: ए डलिट्स लाइफ. साम्या।
16. येंगड़े, सू. (2019). कास्ट मैटर्स. वाइकिंग बाय पेंगुइन।
17. हैबरमास, यु. (1962/1989). द स्ट्रक्चरल ट्रांसफॉर्मेशन ऑफ द पब्लिक स्फीयर. एमआईटी प्रेस।
18. जाफ्रेलोत, सी. (2003). इंडियाज़ साइलेंट रेवोल्यूशन: द राइज़ ऑफ द लोअर कास्ट्स इन नॉर्थ इंडिया. कोलंबिया यूनिवर्सिटी प्रेस।
19. कोठारी, र. (1970). पॉलिटिक्स इन इंडिया. ओरिएंट लॉन्गमैन।
20. गुहा, र. (2010). इंडिया आफ्टर गांधी: द हिस्ट्री ऑफ द वर्ल्ड्स लार्जेस्ट डेमोक्रेसी. पिकाडोर।